ISSN 2250-2467

दृष्टि

An International Research Referred Journal Related to Higher Education

Volume 4, No. 1 2013

spirit of youth

छात्र कल्याण केन्द्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (भारत)

विषयानुक्रमणिका

अंक-4, भाग-1 **2013**

विधिक संकल्पना के रूप में सतत् विकास की अवधारणा	*अनूप कुमार*	01–16
वर्तमान समय में विज्ञापनों का महत्त्व	*सत्य प्रकाश पाल*	17–21
भारतीय समाज पर चलचित्र संगीत का प्रभाव	*सुनील कुमार गुप्ता*	22–25
ब्रज की कलात्मक धरोहर : रसिया	*सीमा कुमारी*	26–31
पूर्वांचल में प्रचलित हिन्दू व्रत–त्यौहार एवं उनके गीत	*चन्द्रजीत वर्मा*	32–40
संगीत का मानव मस्तिष्क एवं शरीर पर प्रभाव	*पार्वती घिमिरे*	41–43
हिन्दी नवगीत : एक अध्ययन	*हरीश कुमार*	44–50
भारतीय लोककला पर व्यवसायीकरण का दुष्प्रभाव : एक विचार	*अलका गिरि*	51–53
भारतीय शास्त्रीय संगीत की धरोहर : घराने	*निशा बेगम*	54–57
तुलसी का प्रगतिगामी चिन्तन	*हेमन्त कुमार शुक्ल*	58–61
शास्त्रीय संगीत एवं धर्म का अन्तःसम्बन्ध	*रितु सिंह*	62–65
नाट्यप्रयुक्तध्रुवागान	*संदीप कुमार ओझा*	66–71
ख्याल के विविध रूप : राजस्थानी लोकशैली के रूप में	*दिव्या मिश्रा*	72–75
वेदों में वास्तु का महत्त्व	*अनीस कुमार शुक्ल*	76–81
लोकगीत 1857 का मौखिक इतिहास	*दृष्टि पाठक*	82–86
संजीव के कथा साहित्य में संघर्षशील स्त्री के विविध आयाम	*मनीष कुमार*	87–92
नागार्जुन के उपन्यासों में पुनर्विवाह एक समाधान	*कंवलजीत कौर*	93–96
नृत्य की शोभा "घुँघरू"	*मीनाक्षी तिवारी*	97–100
"गुरु" का मार्गदर्शन है संगीत का आधार	*दीपक त्रिपाठी*	101–104

दृष्टि–2013 (अंक 4) भाग–1, 51–53

भारतीय लोककला पर व्यवसायीकरण का दुष्प्रभाव : एक विचार

*अलका गिरि**

लोक अथवा सामान्यजन की कला लोककला कहलाती है। जन मानस की सांस्कृतिक आकांक्षा जब कलात्मक सौन्दर्य के साथ सहज अभिव्यक्ति पाती है, तथा उपलब्ध वस्तुओं की सहायता से अपने सुन्दरतम् रूप में प्रस्तुत होती है तो वह लोककला का रूप धारण करती है। यह कला जन समान्य की आन्तरिक सर्जनात्मक कला प्रवृत्ति की प्रेरणा से उद्भूत होती है। लोककला लोकमानस की सर्जनात्मकता का एक पहलू है जो जाति, धर्म, लिंग तथा वर्ग के बन्धनों से मुक्त, प्रत्येक आदमी में उसकी अभिव्यक्तिगत गतिविधि के रूप में विद्यमान रहती है।

मनुष्य में जैसे–जैसे परिष्कृत रुचि का विकास हुआ वैसे–वैसे उसकी सौन्दर्य दृष्टि में भी निखार आया, उसने अपने आस–पास की वस्तुओं को सजा–संवार कर रखना शुरू कर दिया, अपने परिवेश के उपादानों को अधिकाधिक आकर्षक व सुखदायक बनाने हेतु मनुष्य ने अपनी स्वाभाविक कला दृष्टि का उपयोग किया जिससे लोककला के विभिन्न आयाम परिलक्षित हुए।

लोककलाओं में इस प्रवृत्ति का प्रमुख कारण मनुष्य का सौन्दर्य बोध तथा जनकल्याण की भावना है। उसके मूल में सामाजिक कर्तव्य और समूहगत भावना व जागरूकता का समावेश रहता है, हमेशा से ही सामुदायिक और सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में मुखर रही लोककला कठोर परिश्रम और अनुशासन के बीच सहजता से विकसित होती रही है।

लोककला वर्तमान में केवल गांवों तक ही सीमित न रहकर शहर के छोटे–बड़े घरों, होटलों, सरकारी तथा गैर सरकारी भवनों, निजी संस्थाओं तथा व्यवसायी व्यक्तियों तक पहुँच गई है। यह अब भूमि व भवन अलंकरण के साथ–साथ हमारे परिधानों व घरेलू सजावट के समान के रूप में दिखाई देने लगी है। जिस गति से इस कथित लोक कला का उत्पादन हो रहा है ओर जिस रूप में इसे अपनाया जा रहा है उसे देखने से पता चलता है कि वह पारम्परिक संस्कारो से उपजी वास्तविक लोककला नहीं अपितु उसकी भोंडी नकल मात्र है, जिसे कुछ लोग व्यवसाय के लोभ से प्रचारित कर रहे हैं। मूल

* शोध छात्रा, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, का.हि.वि.वि., वाराणसी

कलाओं की नकल उतारकर बेचने का व्यापार उस समय से शुरू हुआ जब से पुरातत्व संग्रहालयों व कला संग्रहकों ने प्राचीन एवं नवीन चित्रकारों की बेहतरीन कलाकृतियों की खरीद फरोख्त शुरू की। नये व पुराने चित्रों के जरिये पलक झपकते ही हजारों लाखों रुपये आते देख कुछ लोगों ने नये व पुराने चित्रों की नकल का व्यापार शुरू कर दिया एवं अपनी नकली कलाकृतियों को मूल कलाकृति सिद्ध करने के साथ ही उसकी बढी–चढी कीमत वसूल कर इन कलाओं का व्यवसायीकरण शुरू कर दिया, साथ ही कुछ जरूरतमंद कलाकारों व चित्रकारों को अपने संरक्षण में रखकर कलाओं की जालसाजी व कलाकारों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। होटलों, सरकारी भवनों तथा निजी संस्थाओं में हमें राजस्थान, बंगाल एवं उत्तर–प्रदेश आदि राज्यों की लोक कला जैसे मधुबनी फुलकारी, पट्चित्र तथा अनेक कलाकृतियाँ जो लोक कला के नाम पर सजाई गई हैं उसमें वास्तविक लोक रूपों की कमी मिलती है। बड़ी–बड़ी जगहों पर लोककला का जो प्रदर्शन वर्तमान में किया जा रहा है उसमें न तो लोकरंग की महक मिलती और न ही उसका वास्तविक आकर्षण।

व्यवसायीकरण के द्वारा वर्तमान में हमारी पारम्परिक दस्तकारी, लोकचित्रों तथा लोक रूपों को नष्ट किया जा रहा है। हर जगह बनावटी लोककला से अपने घर व आंगन को सजाया जा रहा है। राजस्थानी पट्चित्र, पंजाब की फुलवारी, मिथिला की मधुबनी कमरे के पर्दे तक पहुँच गई है, गणगौर और गौरमाता की आकृति को टेबिल लैम्प का रूप दिया जा रहा है लेकिन क्या ये कलात्मक उपादान इन जगहों पर अपने वास्तविक रूप में पहुँच रहे है? शायद नहीं क्योंकि उनके निर्माता उनके रचयिता वे लोग नहीं हैं, जिन्होंने उनके निर्माण की परम्परागत रूप से शिक्षा ग्रहण की है तथा जिन्हें इन कला रूपों के सृजन का पीढ़ी दर पीढ़ी का अनुभव है, बल्कि वे लोग हैं जो व्यावसायिक दृष्टि से हजारों की संख्या में एक साथ नमूने तैयार कर रहे हैं।

लोककला का निर्माण लोक जीवन की आत्मा में रच बसकर होता है तथा उसका एक पारम्परिक व सांस्कृतिक आधार होता है जिसमें लोकहित व लोक संस्कार की भावना होती है किन्तु व्यावसायिक लाभ के लिए जो लोग लोककला का उपयोग करते हैं वे इसका उपयोग नहीं बल्कि शोषण करते हैं अतः इन कलाओं की उम्र घटती जा रही है। लोक–संस्कार व लोक–परम्परा से रिश्ता तोड़कर लोक कलाएं कभी भी जीवित नहीं रह सकती हैं, व्यवसायीकरण इनका गला घोट देगी।

इससे पहले कि लोक कलाओं की भोंडी नकल और उनका निराधार प्रयोग इन्हें गुमनामी के अंधेरे में पहुँचा दे हमें इनके संरक्षण के लिए व्यावहारिक कदम उठाना चाहिए। सर्वप्रथम नकली कलाकृतियों के प्रति लोगों के आकर्षण व रुझान को कम करके वास्तविक लोककला के महत्त्व को समझाना होगा साथ ही नई पीढी को भी इसके महत्व के प्रति जागरूक करना होगा, इसके लिए

स्कूल– कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों में लोक कलाओं में निहित सोन्दर्य से सम्बद्ध पाठ का समावेश किया जाना चाहिए।

धनोपार्जन की ओर से दृष्टि हटाकर लोक–कलाओं व लोक संस्कृति का शोषण रोका जाना चाहिए। सच्चे लोककला रूपों का संग्रह तथा डाक्यूमेन्टेशन करके हम उन्हें जनसामान्य में प्रचारित कर सकते हैं साथ ही मूल लोककलाओं को शोध का विषय बनाकर भी इस दिशा में बहुत ही सकारात्मक परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

जनमानस को यह बात समझनी होगी है कि लोक कलाएँ अपने संस्कारित स्वरूप में ही सुन्दर व आकर्षक लगती हैं फैशन के लिए अपनाई गई लोक कला से न तो कला का मान बढ़ता है और न ही व्यक्ति विशेष का, इस रूप में अपनाई गई वस्तु का महत्त्व अस्थाई होता है कुछ समय बीतने के पश्चात ही उसका रूप,रंग व आकर्षण कम हो जाता है तथा वह अंधकार में गुम हो जाता है ।

लोककलाओं को बचाने के लिए लोक संस्कृति की रक्षा करना जरूरी है लोक रंग से सराबोर अपने मेले, त्योहार और उत्सव की संस्कृति को बचाना होगा साथ ही आम आदमी के मन में लोककला के प्रति आस्था जगानी होगी अन्यथा व्यवसायी लोग इन कलाओं के सामाजिक सरोकारो एवं संस्कारित स्वरूप को नष्ट कर देंगे।

संदर्भ सूची

1. गोस्वामी प्रेमचन्द, भारतीय कला के विविध स्वरूप, पंचशील प्रकाशन–दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997, पेज 87
2. झा मोहनानन्द, मिथिला सांस्कृतिक परम्परा मे लोकगीत
3. दास डॉ. रेखा, बिहार के लोकनाटकों की प्रमुख शौलियों का विवेचना, सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994
4. श्रीवास्तव, संगीत निबन्ध संग्रह, संस्करण मई 1974
5. मिश्रा डॉ. एच. एन., बनारस की चित्रकला
6. वर्मा डॉ. अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डीपो बरेली, प्रथम संस्करण 1968